

## शिक्षा की मुक्ति का सवाल उठाती एक किताब सुरेश पंडित

पुस्तक समीक्षा में इस बार ग्रन्थशिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित अक्षय कुमार की पुस्तक 'शिक्षा की मुक्ति' की समीक्षा प्रकाशित की जा रही है।

शास्त्र कहते हैं - 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् विद्या वही है जो मुक्ति दे। अज्ञान, अंधविश्वास, अन्याय, दासता, उत्पीड़न आदि से मुक्त करे, छुटकारा दिलाए। यह विद्या शिक्षा का ही पर्याय है। जानने, सीखने से ही उक्त भव बाधाओं से मनुष्य बचा रह सकता है। पर इस मुक्तिदायी शिक्षा की मुक्ति के लिए ही यदि कोई आवाज उठाए तो असमंजस होना स्वाभाविक है। शिक्षा किससे मुक्ति चाहती है, किसने उसे कैद कर रखा है जैसे सवाल मन को झकझोरने लगते हैं और इनका जवाब पाने के लिए अक्षय कुमार की पुस्तक 'शिक्षा की मुक्ति' पढ़ना अनिवार्य हो जाता है। क्योंकि इसमें शिक्षा को अपनी गिरफ्त में लेकर उसे अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए इस्तेमाल करने वाली ताकतों को तो बेनकाब किया ही गया है उनसे छुटकारा दिलाने की विधियों पर भी विस्तार से चर्चा की गई है। उल्लेखनीय है कि देश के गिने-चुने शिक्षाविदों में अक्षय कुमार का नाम प्रायः नहीं लिया जाता। इसलिए संभव है हमारी तरह अन्य बहुत से शिक्षा प्रेमी पाठक यदि उन्हें नहीं जानते हों तो इसमें किसी तरह के आश्चर्य की बात नहीं है। पर उनके बारे में यह जानकारी उन्हें उक्त शिक्षाविदों से अलग कर विशिष्ट बनाती है कि वे 1971 में अपनी औपचारिक शिक्षा पूरी कर अपने क्षेत्र में चल रहे मुक्ति आन्दोलन में शामिल हो जाते हैं और बिहार की करपी क्षेत्रीय प्रयोगशाला के लोक शाला कर्मियों के साथ जुड़कर अभिवांचित लोगों की शैक्षिक आकांक्षाओं का अध्ययन करते, शिक्षा में व्यापक जनहित की दृष्टि से बदलाव के लिए जूझते तथा जहां जिस तरह का स्पेस मिले अपनी बात कहते चले आ रहे हैं। उनकी यह पुस्तक किसी पद, प्रतिष्ठा प्राप्त शिक्षा-शास्त्री की देशी विदेशी विद्वानों के ज्ञान से बोझिल पुस्तक नहीं है बल्कि सीधे-सीधे आम लोगों के विशेषकर मुसहर जाति के लोगों के साहचर्य से प्राप्त अनुभवों को ईमानदार वाणी देने वाली सीधी, सच्ची पुस्तक है। इसलिए इसे पढ़ना यथार्थ की एक ऐसी पथरीली राह से गुजरने जैसा है जो जगह-जगह राही को रुककर देखने, समझने और कड़वी सच्चाईयों को आत्मसात करने के लिए बाध्य करता है।

पुस्तक का आरंभ ही अक्षय कुमार इस सवाल से करते हैं कि आखिर शिक्षा से मुक्ति की बात करने की जरूरत उन्हें ही क्यों महसूस हुई और इसका उत्तर भी वे स्वयं ही देते हैं कि यह जरूरत किसी भी ऐसे संवेदनशील व्यक्ति को हो सकती है जो जमीनी स्तर पर प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के लिए निष्ठापूर्वक निरन्तर संघर्ष करता रहा है। इस प्रक्रिया में उसका मोह भंग तब अनायास होता है जब वह शिक्षा के सिद्धान्त और व्यवहार में पूरी तरह संबंध विच्छेद हुआ पाता है। जीवन के सरोकार और जीवन शैली से सैद्धान्तिक चिन्तन की प्रकृति अलग होती उसे दिखाई देती है। ऐसी स्थिति में उसे शिद्दत से यह महसूस होता है कि शिक्षा

### लेखक परिचय :

सामाजिक कार्यकर्ता। साहित्य, शिक्षा, एवं सामाजिक मुद्दों पर विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में स्वतंत्र लेखन।

### सम्पर्क :

383, स्कीम नं. 2, लाजपत नगर,  
अलवर - 301001

के वास्तविक परिदृश्य को जानने के लिए आलोचनात्मक दृष्टि से उसका निरीक्षण- परीक्षण जरूरी है।

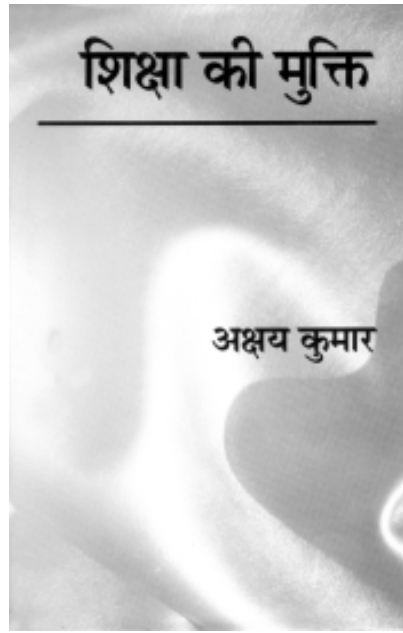
वह कहता है कि शिक्षा आज विशेषज्ञ बनाने की महत्वाकांक्षा में कैद होकर रह गई है। इससे सामान्यजन के बीच विशेष उद्देश्य के लिए साधारण से अधिक या ऊंचा होने की होड़ बढ़ गई है। इस प्रवृत्ति ने लोगों में गैर-बराबरी के जो बीज बोये हैं उनके परिणाम सामने आने लग गए हैं। इससे समाज में कुछ खास लोग अधिक सुविधा, साधन सम्पन्न होते जा रहे हैं और दूसरे उनसे विलगते-छोटे, नीचे होते जा रहे हैं। शिक्षा के क्षेत्र में यह सब अचानक या अनायास नहीं हुआ है बल्कि जानबूझकर सोची समझी योजना के तहत हुआ है। विशिष्टता के नाम पर ज्ञान सृजन की प्रक्रिया को इस हद तक सीमित कर दिया गया है कि आज ज्ञानी व्यक्ति भी पर निर्भर हो गया है। वह रोजगार पाकर भी स्वयं को असहाय महसूस करता है क्योंकि उसे वर्तमान व्यवस्था एक संसाधन के रूप में इस्तेमाल करने लगी है। देखते-देखते ज्ञानदायी शिक्षा को अर्थकारी बनाने पर जोर बढ़ता जा रहा है। स्वयं को विशिष्ट बनाने के लिए मनुष्य भौतिक साधनों का अधिकाधिक उपयोग और प्रदर्शन करने के लिए धन संचय को शैक्षिक प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण पहलू मानने लगा है। फलस्वरूप व्यावसायिक शिक्षा अब अन्य विषयों की शिक्षा से अधिक महत्वपूर्ण बन गई है। शिक्षा की प्रकृति का निर्धारण बाजार की मांग के अनुसार होने लगा है।

वैश्वीकरण के बढ़ते कदम सांप्रदायिक सोच को राजनीति से संबद्ध होने के लिए जमीन तैयार कर रहे हैं। आर्थिक विषमता के साथ लैंगिक विषमता के मसले पूरी तरह दब गए हैं। नैतिकता और सदाचार के नाम पर समाज में ऊंच-नीच की भावना और सम्प्रदाय-आधारित तुलनात्मक संदर्भ की प्रस्तुति पाठ्यपुस्तकों में बिना रोक-टोक के हो रही है। ऐसी दशा में जनपक्षी, प्रगतिशील शिक्षाकर्मी के लिए यह समझना आवश्यक है कि वर्तमान सामाजिक, राजनैतिक स्थिति में शिक्षा राज्य के निर्धारित मानकों में कैद होकर रह गई है। जाहिर है शिक्षा का यह बन्दीकरण यथास्थिति को बनाए रखने और व्यवस्था की लोक विरोधी दुर्नीतियों को चुनौतिविहीन बनाए रखने के लिए उपयोगी साबित हो रहा है। इस सचाई को भली-भांति आत्मसात करने के बाद ही शिक्षा की मुक्ति के लिए उपयुक्त चेतना का विकास हो सकता है। यह पुस्तक निश्चय ही शिक्षा को लेकर

राजनेताओं, धनाढ्यों और समाज में वर्चस्व प्राप्त वर्गों द्वारा रची जा रही दुरभिसन्धियों का न केवल पर्दाफाश करती है बल्कि बदलाव के लिए कुछ नए विकल्प भी सुझाती है।

शिक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विहंगम दृष्टि डालते हुए लेखक प्राचीन काल अर्थात् बुद्ध से पहले की शिक्षा को आश्रम-आधारित बतलाते हैं। वह शिक्षा ज्ञान, कर्म और उपासना केन्द्रित थी और शिक्षार्थी को मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से दी जाती थी। बौद्ध धर्म की स्थापना के बाद मठों और विहारों में शिक्षा देने की परम्परा शुरू हुई। इस शिक्षा में धर्म-अध्यात्म का ज्ञान प्रमुख था यद्यपि जीवनोपयोगी ज्ञान का भी पाठ्यक्रम में समावेश रहता था। मध्यकाल में शिक्षा के स्वरूप में काफी बदलाव आया और धर्म-अध्यात्म को थोड़ा हाशिए की ओर खिसकाकर चिकित्साशास्त्र, खगोल विद्या, गणित, दर्शन और विज्ञान जैसे विषयों के शिक्षण को भी महत्त्व दिया जाने लगा। स्वाधीनता आन्दोलन से पहले जहां एक ओर अंग्रेज सरकारी स्कूलों में ऐसी शिक्षा देने की वकालत कर रहे थे जो धर्मनिरपेक्ष और जीवनोपयोगी ज्ञान देने वाली थी वहीं भारतीय स्वैच्छिक (धार्मिक, सामाजिक) संस्थाएं शिक्षा के माध्यम से लोगों को पुनर्जागरण हेतु अतीत के उन पक्षों की शिक्षा दे रही थी जिनसे वे राष्ट्रीय आन्दोलनों के सहयोगी बनकर उन्हें अधिक प्रभावी और इच्छित परिणामोन्मुख बना सकें। खेद है इस सारे पुरातन परिदृश्य पर मुड़कर नजर डालते हुए लेखक कहीं भी सत्ता और शिक्षा के अन्तर्संबंधों पर प्रकाश नहीं डालते। वे नहीं बताते कि आरंभ से ही किस तरह सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्रों में वर्चस्व प्राप्त लोग आम लोगों तक शिक्षा की पहुंच को रोकने में लगे रहे ताकि उनकी प्रभुता पर आंच न आए।

स्वाधीनता आन्दोलन से पहले और उसके दौरान अंग्रेज सरकार शिक्षा के मद में जो धनराशि आवंटित करती थी वह सरकारी स्कूलों में अंग्रेजी शिक्षा के लिए काम आती थी। निजी संस्थाओं को अपना भरण-पोषण समाज के सहयोग से ही जुटाना पड़ता था। सरकारी स्कूलों की अंग्रेजी शिक्षा के समान्तर सबसे पहले गांधी जी ने नई तालीम की अवधारणा को समाज के सामने रखा। वे मानते थे कि ग्रामवासियों को मुख्यधारा में लाने के लिए ऐसी शिक्षा की जरूरत है जो उनके जीवन-परिवेश से जुड़ी हो और जिस में कर्म और ज्ञान के बीच समन्वय हो। निश्चय ही गांधी जी के इस प्रयास को अंग्रेज सरकार सन्देह की नजर से देखती थी क्योंकि यह ज्ञान को वर्चस्वशाली वर्गों के चंगुल से निकाल कर



सामान्यजन तक ले जाने का एक अनोखा प्रयास था।

आजादी के बाद विगत 60 सालों में शिक्षा की दशा दिशा पर विचार करने के लिए जो भी आयोग बने उन्होंने अन्य सुझावों के अलावा यह बात जोर देकर कही की समाज में समानता और सामाजिक न्याय की अवधारणा को सच्चे अर्थों में लाने के लिए यह आवश्यक है कि सारे देश में एक समान स्कूली व्यवस्था हो और अफसोस है प्रभुता सम्पन्न वर्गों ने उसी को नहीं होने दिया। वैश्वीकरण की उदार अर्थव्यवस्था अपनाने से पहले भी यद्यपि अनेक स्तरों के स्कूल चल रहे थे लेकिन सरकारी स्कूलों की प्रतिष्ठा बनी हुई थी। लेकिन 1990 के बाद निजी स्कूलों की जो बाढ़ आई उसने साफतौर पर सरकारी स्कूलों को दीन, हीन, वंचित वर्गों के बच्चों की पढ़ाई के केन्द्र बनाकर रख दिया। आज इन दोनों तरह की शिक्षण संस्थाओं के बीच उतनी ही चौड़ी खाई बन गई है जितनी गरीब और अमीर के बीच हमारे समाज में है।

गरीब बच्चों के लिए ऊंची फीस और भव्य अट्टालिकाओं वाले निजी स्कूलों तक पहुंचना तो संभव है ही नहीं सरकारी स्कूल भी उनकी पकड़ से दूर होते जा रहे हैं। यों राज्यों की सरकारों ने इतने स्कूल खोल दिए हैं कि प्राइमरी कक्षाओं के बच्चों को अधिकतम एक कि.मी. से दूर न जाना पड़े। इसी तरह मिडिल और सैकेण्ड्री/सीनियर सैकेण्ड्री स्कूलों की दूरी भी इतनी सी रह गई है कि बच्चों को वहां तक पहुंचने में विशेष कठिनाई नहीं होती। पर कक्षाओं में छात्रों के बीच जाति को, वर्ग को लेकर बने भेदभाव और अध्यापकों के पूर्वाग्रह अभी तक ज्यों के त्यों बने हुए हैं जिससे वंचित वर्ग के बच्चे प्रवेश लेकर भी आगे नहीं पढ़ पाते। गांवों में अधिकतर सरकारी स्कूलों का उच्च वर्गों/जातियों के गली मौहल्लों के पास होना, मातृभाषा और स्कूल में पढ़ाई जाने वाली भाषाओं का अन्तर, पाठ्यपुस्तकों की अन्तर्वस्तु का उनके परिवेश से कटे रहना जैसे बहुत से कारण हैं जो पिछड़े वर्गों के बच्चों को आगे पढ़ने से रोकते हैं। अफसोस है इन्हें दूर करने की ओर सरकार का ध्यान प्रायः नहीं जाता।

स्कूली पाठ्य पुस्तकों की अन्तर्वस्तु को केन्द्र/राज्य में जिस विचारधारा की सरकार आती है वह अपने अनुसार बदलने का प्रयास करती है। इससे खींचतान की ऐसी स्थिति पैदा होती जा रही है जो छात्रों की पढ़ने की रुचि का कम करती है और पुस्तक में दिए तथ्यों को संदिग्ध बनाती है। पाठ्य पुस्तक लिखने वालों की बकायदा एक जमात बन गई है। उनके लिए यह काम बच्चों के मानसिक विकास का कोई उद्यम न होकर पैसा कमाने का एक धंधा बन गया है। जो सरकार आती है ये उसी की विचारधारा के अनुरूप पुस्तक बना देते हैं। इन्हें इससे कोई मतलब नहीं होता कि इनकी विषयवस्तु

बालमनोविज्ञान के अनुरूप है या नहीं। ये बच्चों को रुचिकर लगती हैं या नहीं और इन्हें पढ़कर बच्चों में वांछित व्यवहारगत परिवर्तन होते हैं या नहीं। सरकारी स्कूलों में, केन्द्रीय विद्यालयों में और आदर्श विद्यामन्दिरों में जो कुछ पढ़ाया जा रहा है उसमें कहीं कोई तारतम्य नहीं है। केन्द्रीय स्तर पर विभिन्न राज्यों में पढ़ाई जाने वाली पाठ्यसामग्री की समीक्षा का प्रावधान तो है पर इस एजेंसी को यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि यह प्रभावी हस्तक्षेप कर सुधारात्मक कदम उठा सके। परिणामस्वरूप राज्यों द्वारा की जाने वाली मनमानियों को रोकना असंभव हो गया है। सीबीएसई द्वारा चलाई जाने वाली यौन शिक्षा को भाजपा की सरकारों ने ही नहीं महाराष्ट्र की कांग्रेस सरकार ने भी अपने राज्य में पढ़ाए जाने से इंकार कर दिया है।

आम लोगों को बहकाने के लिए शिक्षा के सर्व व्यापीकरण की बातें आजादी के बाद से ही दुहराई जाती रही हैं लेकिन हकीकत यह है कि एक सोची समझी रणनीति के तहत सदा से यह कोशिश होती रही है कि इस तरह के संकल्प कभी क्रियान्वित न हों। ज्ञान के सृजन, नियंत्रण एवं वितरण को सभी स्तर पर एक दायरे के भीतर संकुचित रखने के कुचक्र आज भी चालू हैं। वंचित जनों को ज्ञान से दूर रखने के लिए एक ओर जहां जातीय एवं सांप्रदायिक भावनाएं भड़काने के नित्य प्रति आयोजन हो रहे हैं वहीं दूसरी तरफ इन्हीं शक्तियों की ओर से ज्ञान के मसलों को उठाकर पहचान की राजनीति को धार भी दी जा रही है। यह सब असली कारणों से ध्यान हटाने के लिए किया जा रहा है। लगता है सभी जातियों और संप्रदायों के सुविधा संपन्न लोगों के बीच निहित स्वार्थों के आधार पर कोई गुप्त समझौता हो गया है, तभी तो पाठ्यपुस्तकों में वंचितों की जीवन शैली, उनके परिवेश, भाषा-बोलियां, उनकी संस्कृति, देवी देवताओं का प्रायः उल्लेख तक नहीं मिलता। शैक्षिक प्रक्रिया के संचालन में उनकी निर्णायक भागीदारी नहीं रहती। शिक्षक प्रशिक्षण में सामाजिक विषमता के कारणों के विश्लेषण और समाधान को कोई जगह नहीं मिलती। उनके बच्चों के नामांकन और पलायन की स्थिति अब तक भी शोचनीय बनी हुई है।

अन्त में यह पुस्तक शिक्षा को स्वार्थी कुलीनतंत्र के मकड़ जाल से छुटकारा दिलाने के जिन उपायों को रेखांकित करती है उनमें शिक्षा व्यवस्था का पूरी तरह विकेन्द्रीकरण, लोगों में आलोचनात्मक चेतना का विकास, पाठ्यचर्या की रूपरेखा में प्रभावी हस्तक्षेप, समुदाय की सोच का जनवादीकरण, शिक्षा से सामाजिक समानता, लोकतंत्र का सुचारू संचालन और समाज में शांति सौहार्द बनाए रखने की इच्छा आदि मुख्य रूप से शामिल हैं। शिक्षा में सार्थक बदलाव चाहने वाले सुधी पाठक को यह पुस्तक पसन्द आएगी ऐसा विश्वास है। ♦